



टीवी और सेक्सुअलिटी

(TV and Sexuality)

टेलिविज़न और सेक्स से संबंधित सार्वजनिक बहस का दायरा सामान्यतः टीवी पर 'क्या दिखाया जा सकता है और क्या नहीं' तक सीमित रहता है। राजनीतिक दल, कट्टरपंथी धार्मिक संगठन, संसरशिप विरोधी समूह और अश्लीलता के खिलाफ़ झंडा बुलंद करने वाले समूह टीवी कार्यक्रमों और विज्ञापनों में प्रसारित होने वाली सेक्सुअल छवियों के विषय में अपनी-अपनी विचारधारा और राजनीतिक आवश्यकताओं के मुताबिक़ मुद्राएँ ग्रहण करते या छोड़ते हैं जिस पर मीडिया और टीवी-अध्ययनों की अकादमीय दुनिया ज़्यादा ध्यान नहीं देती। वह इस प्रश्न पर अधिकतर दो दृष्टिकोणों से गौर करती है : टीवी पर सेक्सुअलिटी किस तरह निरूपित (रिप्रजेंटिड) और संकेतित (सिग्नीफ़ाइड) है। वह अपनी ज़्यादातर सामग्री मनोविश्लेषण, नारीवाद और क्वीयर थियरी के विमर्श से लेती है। जहाँ तक पुरुष और स्त्री की सेक्सुअलिटी का प्रश्न है, इस विमर्श में स्त्री से संबंधित प्रश्नों पर अधिक गौर किया गया है। पुरुष सेक्सुअलिटी पर विचार करने की परम्पराएँ कुछ देर से विकसित होनी शुरू हुई हैं। मीडिया ने आम तौर पर और टीवी ने खास तौर से दोनों तरह की यौनिकताओं का विन्यास अलग-अलग ढंग से किया है। पर हर हालत में उनकी संरचनाओं पर इतरलैंगिक मानक हावी रहते हैं। टीवी वैकल्पिक यौनिकताओं को गुमराह सेक्सुअलिटी की तरह पेश करता है। इस लिहाज़ से टीवी अल्पसंख्यक सेक्सुअलिटी की 'प्रतीकात्मक हत्या' की नुमाइंदगी करता है। एक नया विकास यह हुआ है कि लोगों

के अंतरंग जीवन में झाँकने वाले कार्यक्रम रियलिटी टीवी के उभार के बाद बनने लगे हैं। हालाँकि इन्हें प्राइम टाइम पर नहीं दिखाया जाता, पर देर रात का टीवी इस तरह के कार्यक्रमों को परोसता है। इनकी शुरुआत अमेरिका के प्लेबॉय और पेंटहाउस चैनलों ने की थी, पर अब भारत जैसे ग़ैर-पश्चिमी टीवी उद्योगों ने इनका स्थानीय तौर से निर्माण प्रारम्भ कर दिया है।

नारीवादी आलोचकों ने शुरुआती दौर से ही टीवी उद्योग पर इलज़ाम लगाया है कि वह स्त्री किरदारों को आम तौर पर औरतों के इतरलैंगिक (हेटरोसेक्सुअल) आकर्षण के आधार पर कल्पित करता है। इससे निकलने वाली छवि स्त्री को पुरुषों की 'चीज़' में घटा देती है। स्त्रियों का यौनिक वस्तुकरण मीडिया के सभी संस्करणों में पाया जाता है, पर टीवी स्क्रीन पर आकर उसकी चाक्षुषता एक दैनंदिन रूप ग्रहण कर लेती है। दूसरे, टीवी इस यौनिक वस्तुकरण को लोगों के अंतरंग और घरेलू जीवन में ले आता है, जबकि फ़िल्म के पर्दे पर चलने वाली यही प्रक्रिया इस तरह की भूमिका अदा नहीं कर पाती। नारीवादियों को सेक्सुअल तौर पर खुली हुई छवियों के निरूपण पर ज़्यादा ऐतराज नहीं है, बल्कि उन्हें आपत्ति इस बात पर है कि यह पूरी कारीगरी पुरुष प्रभुत्व में चलने वाले संस्थागत विन्यास के तहत होती है। स्त्रियों का इन छवियों के प्रक्षेपण पर किसी तरह का नियंत्रण नहीं होता। नारीवादियों की यह आलोचना उस समय काफ़ी हद तक सही लगने लगती है जब समाचार पढ़ने वाली स्त्रियों का चयन करते समय भी पारम्परिक सेक्सुअल आकर्षण का मानक बनाया जाता है। दूसरे, बहुतेरे टीवी कथानकों में स्त्री की यौनिकता कुछ इस अंदाज़ में चित्रित की जाती है जैसे कि वह किसी ख़तरे, जोखिम या रहस्य का प्रतिनिधित्व करती हो। स्त्री की सेक्सुअलिटी का यह दोहन वैसे तो

मीडिया के अन्य रूपों के लिए भी सही है, पर टीवी स्क्रीन की करामात उसे अधिक प्रभावी बना देने में निहित है।

दिलचस्प बात यह है कि टीवी धारावाहिकों (सोप ओपेरा) का विश्लेषण करने वाले विद्वान इस नारीवादी आलोचना से भिन्न नतीजों पर पहुँचे हैं। इन लोकप्रिय धारावाहिकों में स्त्री-पात्रों की स्थिति केंद्रीय होती है। उन्हें कमजोर दिखाने के बजाय मजबूत शख्सियत का मालिक दिखाया जाता है। धारावाहिक की नायिका या खलनायिका एक ही परिवार में रहते हुए कई-कई शादियाँ कर सकती है। चूँकि वह आर्थिक रूप से ताक़तवर दिखाई जाती है, इसलिए वह सेक्शुअली दबी हुई स्थिति में नहीं होती। धारावाहिकों के स्त्री-पात्र अपनी गतिविधियों से 'सक्रिय यौनिकता' की छवि प्रक्षेपित करती हैं। मँझोली उम्र के स्त्री-पात्रों का चित्रण भी यौनिक रूप से सक्रिय व्यक्ति के रूप में होता है। उनकी यौनिकता केवल पुरुष-कामना की वस्तु नहीं होती, बल्कि खुद उनकी अपनी कामना उसका स्रोत होती है।

पुरुष सेक्शुअलिटी आम तौर पर मीडिया के पाठों से 'हवा की तरह अदृश्य' रही है। पुरुष यौनिकता के चित्रण के लिए सामान्यतः प्रतीकों का सहारा लिया जाता रहा है। पर्दे को चीरती हुई ट्रेन, भाप के इंजिन का आगे-पीछे चलता हुआ पिस्टन, बंदूकें, तलवारों और सिगार के माध्यम से पुरुष सेक्शुअलिटी की शिशन-केंद्रित अभिव्यक्तियाँ रची जाती रही हैं। हाल के कुछ वर्षों में यह परम्परा टूटी है और पुरुष की देह का नियोजित यौनीकरण (सेक्शुअलाइजेशन) किया जाने लगा है। पहले केवल स्त्री को देखने वाली 'पुरुष की निगाह' ही चर्चा के केंद्र में रहती थी, पर पुरुष शरीर के यौनीकरण के बाद 'स्त्री की निगाह' भी शिनाख्त के दायरे में आ गयी है जिसके सिद्धांतीकरण की विचारोत्तजक सम्भावनाएँ खुली हैं। जिमनेज़ियम में तराशी गयी पुरुष-देह के टीवी स्क्रीन पर प्रदर्शन ने समाज में पुरुषों के बीच अपनी देह को लेकर नयेसरोकारों को जन्म दिया है। पुरुषों की अपनी साज-सज्जा, दैहिक प्रस्तुतीकरण और अपने श्रांगारिक निरूपण के आग्रहों में इसकी वजह से परिवर्तन आना शुरू हो गया है। भारतीय समाचार पत्रों के पेज-श्री परिशिष्टों और रंगीन पत्रिकाओं के पृष्ठों पर होने वाली 'मेट्रोसेक्शुअल मैन' की चर्चा इसका प्रमाण है।

यूरोप और अमेरिका में सामाजिक मर्यादाओं पर ईसाइयत के प्रभाव के कारण समलैंगिकता को पाप की संज्ञा दी जाती रही है। ऐसी ही सामाजिक और धार्मिक मर्यादाओं के प्रभाव में गढ़ी गयी 'सेक्शुअल करेक्टनेस' का पालन करने के लिए टीवी प्रोड्यूसर कम से कम साठ के दशक तक ऐसे किसी भी पाठ का चित्रांकन करने से कतराते रहे जो हेटरेसेक्शुअल मानकों का ज़रा सा भी उल्लंघन करता हो। जीवन के दूसरे क्षेत्रों में अदृश्यता के शिकार पुरुष और स्त्री

समलैंगिकों को इस प्रक्रिया में निरूपण के लिहाज़ से भी हाशिए पर रहने के लिए मजबूर होना पड़ा। उनसे संबंधित किसी भी विषयवस्तु की प्रस्तुति हमेशा एक ऐसी कूट भाषा में की जाती रही जिसे समझना कभी-कभी तो समलैंगिकों के बस में भी नहीं होता था। वैकल्पिक सेक्शुअलिटी के आंदोलनों और विमर्श ने इस स्थिति को एक हद तक बदला। सेंसरशिप के नियम पहले के मुक्राबले ढीले हुए, टीवी प्रसारण से सरकारों की जकड़ कमजोर हुई और लोगों की सोच में भी तब्दीली आयी। परिवर्तन के पहले दौर में पुरुष समलैंगिकों को आम तौर पर हास्य कार्यक्रमों में उपहास की वस्तु बना कर पेश किया गया। समलैंगिक स्त्रियाँ इस दौर में या तो पूरी तरह से अनुपस्थित रहीं, या फिर उन्हें बच/फ़ेमे द्विभाजन की रूढ़ छवियों के रूप में निरूपित होना पड़ा। लेकिन दूसरे चरण में पश्चिमी देशों में हुए क्रान्ती परिवर्तनों और जन-रुचि में आये परिवर्तनों के संयोग ने मीडिया (और टीवी) के रवैये को भी बदला। समलैंगिक-भीति से बचते हुए होमो-किरदारों को हमदर्दी से पेश किया जाने लगा। यह अलग बात है कि इस बदले हुए निरूपण का परिप्रेक्ष्य पूरी तरह से इतरलैंगिक ही बना रहा। आज यह परिप्रेक्ष्य भी परिवर्तित हो रहा है। टीवी व्यवसाय अपने कार्यक्रमों की लोकप्रियता के लिए 'गे-ऑडिअंस' का भी ध्यान रखता है। उसने 'दोहरी मार्केटिंग रणनीति' अपनायी है जिसके तहत कुछ ऐसी छवियाँ प्रसारित की जाती हैं जिन्हें इतरलैंगिक अपने तरीके से और समलैंगिक अपने तरीके से पढ़ सकते हैं। आज प्राइम टाइम टीवी पर पहले से कहीं ज़्यादा लेस्बियन किरदार दिखाई देते हैं, लेकिन उनका रवैया कुछ इस तरह का रखा जाता है कि वे इतरलैंगिक स्त्रियाँ भी न केवल उनके प्रति अरुचि महसूस नहीं कर पातीं, बल्कि उन्हें इतरलैंगिकों की ही तरह ही स्वीकार कर लेती हैं।

सेक्शुअलिटी और टीवी के संबंधों में एक नया आयाम पिछले डेढ़ दशक में यह आया है कि देर रात के प्रसारण में खुली सेक्शुअल विषयवस्तुएँ पेश की जाने लगी हैं। प्लेबॉय चैनल द्वारा 1998 से प्रसारित 'सेक्सटरा' एक टीवी न्यूज़मैगज़ीन थी जिसकी 80 कड़ियाँ दिखाई गयीं। इसमें काम-विषयक घटनाओं और प्रसंगों की रिपोर्टिंग होती थी और इसकी महिला एंकर अपनी प्रस्तुति करते हुए स्ट्रिपटीज़ तक कर डालती थीं। 1995 से 2007 तक प्लेबॉय टीवी ने ही 'नाइट काल्स' नामक कार्यक्रम प्रसारित किया जिसमें फ़ोन के जरिये दर्शकगण अपने सेक्शुअल मुद्दों के बारे में संवाद करते थे। इनमें ज़्यादातर बातें सेक्शुअल स्वैर-कल्पनाओं के बारे में होती थीं, और इस शो के प्रस्तुतिकर्ताओं को पोर्न फ़िल्मों के अभिनेता और अभिनेत्रियों में से छाँटा जाता था।

इस तरह के लेटनाइट शो की बारम्बारता धीरे-धीरे गैर-पश्चिमी टीवी उद्योगों में बढ़ रही है। डिजिटल, केबल

और सेटेलाइट प्रोग्रामिंग के युग में भारत के जूम टीवी ने 'सेक्शुअल एगॉनी आंट' कार्यक्रमों की शुरुआत करके इसकी बानगी कर दी है। इन कार्यक्रमों में दर्शकगण फ़ोन करके किसी कथित विशेषज्ञ से अपनी यौनिक समस्याओं के समाधान पूछते हैं। इसके अलावा सेक्शुअल कार्यक्रम प्रसारित करने वाले रूसी चैनलों को भी कई केबल टीवी ऑपरेटर देर रात में प्रसारित करने लगे हैं।

देखें : टीवी और टीवी अध्ययन, टीवी और समाचार, बाज़ारू संस्कृति, बहुसंस्कृतिवाद, युरोकेंद्रीयता, संस्कृति, संस्कृति-अध्ययन, संस्कृति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, संस्कृति-उद्योग, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, सोप ओपेरा।

संदर्भ

1. जे. आर्थर्स (2004), *टेलिविज़न एंड सेक्शुअलिटी : रेगुलेशंस एंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ टेस्ट*, ओपिन युनिवर्सिटी प्रेस, मेडिनहेड और न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

टीवी और टीवी-अध्ययन

(TV and TV Studies)

टेलिविज़न के आने से पहले मनोरंजन की दुनिया पर रेडियो और सिनेमा का दबदबा था। लेकिन बीस के दशक में इलेक्ट्रॉनिक स्कैनिंग की प्रौद्योगिकी विकसित होने के केवल दस साल बाद ही छवियों के सार्वजनिक प्रसारण के प्रयोग किये जाने लगे। इसके बाद टीवी ने प्रगति की छलांगें मारते हुए जन-मानस को अपने मोहपाश में बाँध लिया। टीवी के साथ सबसे ज़्यादा अलग बात यह थी कि लोगों को उसके पास नहीं आना पड़ता था, बल्कि वह लोगों के पास जाता था। आज सिनेमा और रेडियो मनोरंजन के स्रोत के तौर पर टीवी से बहुत पीछे छूट चुके हैं। टीवी ने सूचना और विश्लेषण के स्रोत के तौर पर समाचार पत्रों और पत्रिकाओं के साथ भी होड़ की। इसका नतीजा यह हुआ कि अख़बारों को हरदम आगे रहने वाले टीवी के मुकाबले खुद को आकर्षक और उपयोगी दिखाने के लिए मुद्रित पत्रकारिता में कई नये आयामों का समावेश करना पड़ा। आज घर-घर में तीन-तीन सौ चैनलों वाले टीवी हैं। डिजिटल, केबल और सैटेलाइट टीवी के प्रसारणों से जीवन के हर क्षेत्र को स्पर्श करने वाले चैनल प्राप्त किये जा सकते हैं। टीवी चैनल न

केवल धारावाहिक सीरियल और फ़ीचर फ़िल्में दिखाते हैं, खेल-कूद का आँखों देखा हाल सुनाते हैं, चौबीसों घंटे समाचार प्रसारित करते हैं, बल्कि वे ख़ाना बनाने, घर को सजाने, कपड़े पहनने, निजी रिश्तों की समस्याएँ सुलझाने और यौन-क्रिया तक से संबंधित सुझाव भी देते हैं। चूँकि टीवी का इतिहास अभी ठीक से सौ साल पुराना भी नहीं हुआ है (भारत में ही नहीं अमेरिका और ब्रिटेन में भी पुरानी पीढ़ी के लोग एक चैनल वाले श्वेत-श्याम टीवी को याद करते हैं), इसलिए सांस्कृतिक जगत पर टीवी के प्रभुत्व की यह हकीकत कभी-कभी यकीन से परे लगने लगती है। टीवी का प्रसार और पहुँच पश्चिमी जगत की सीमाओं को पार करके एशिया और अफ्रीका के अभी तक अछूते पड़े हुए इलाकों तक हो रही है।

आधुनिक समाज को गहराई से प्रभावित करने वाले इस माध्यम को समझने की कोशिश समाज वैज्ञानिक साठ के दशक से ही कर रहे हैं। शुरुआत में यह विमर्श मीडिया और संस्कृति-अध्ययनों के अंग के तौर पर चला, क्योंकि पश्चिम में अकादमीय क्षेत्रों में टीवी का अलग से अध्ययन करने और उसकी डिग्री देने को लेकर शुरु में कुछ ऊहापोह था। सत्तर और अस्सी के दशक में सांस्कृतिक, आर्थिक और समाजशास्त्रीय आख्यानों के रूप में टीवी-अध्ययन का एक परिपक्व अनुशासन उभरा।

टीवी पर पहली उल्लेखनीय समाजवैज्ञानिक निगाह डालने का श्रेय रेमण्ड विलियम्स को है। मार्क्सवादी संस्कृति-सिद्धांत के दायरे में काम करते हुए विलियम्स ने आधार-अधिरचना आधारित विश्लेषण के ढर्रे पर चलने के बजाय नया दृष्टिकोण अपनाया। उन्होंने देखा कि टीवी की लोकप्रियता का कारण 'मोबाइल प्राइवेटिज़म' है। टीवी का प्रसारण सार्वजनिक है, पर उसका उपभोग घर के एकांत में किया जाता है। बाहर की दुनिया टीवी के ज़रिये घर में प्रवेश करके उसे नया रूप देती है। विलियम्स टीवी में संचार के लोकतांत्रिक रूपों की बढ़ती हुई सम्भावनाएँ देख रहे थे। इसी के साथ उन्होंने टीवी के अनुभव और विषय-वस्तु को भी अपना सरोकार बनाया। उनका ख़याल था कि टीवी कार्यक्रमों का विन्यास एक क्रमिक प्रवाह जैसा होता है। यह संरचना उसके दर्शकों पर सतही और क्षणिक प्रभाव डालती है जिसका नतीजा उनके मानस को निष्क्रिय करने में निकलता है। विलियम्स का तीसरा योगदान दर्शकों पर किये जाने वाले अनुसंधानों को प्रश्नांकित करना था। उनका ख़याल था कि हिंसा में बढ़ोतरी के एक कारण की तरह टीवी की शिनाख़्त करने से काम नहीं चलेगा। देखना यह होगा कि किन पेचीदा संस्थागत संरचनाओं के तहत टीवी का उत्पादन और उपभोग होता है।

संस्कृति-अध्ययन के प्रणेता स्टुअर्ट हाल ने विलियम्स की विरासत को और विकसित किया। उन्होंने कहा कि टीवी

कार्यक्रमों के निर्माण की प्रक्रिया बड़ी जटिल होती है। इसे उन्होंने इनकोडिंग की संज्ञा दी। इनकोडिंग करने वाले प्रोड्यूसर निर्माण के दौरान अपनी विचारधारा, उपलब्ध ज्ञान और सांस्कृतिक रुझानों का इस्तेमाल तो कर सकते हैं, पर वे यह तय नहीं कर सकते कि उनकी परोसी गयी सामग्री की डिकोडिंग दर्शकों द्वारा कैसे की जाएगी। दर्शक की पृष्ठभूमि भिन्न विचार, भिन्न संस्कृति और भिन्न अनुभव के आधार पर बने मानस की हो सकती है। हाल ने अंदाज़ा लगाया कि दर्शक तीन सम्भावित तरीकों से डिकोडिंग कर सकते हैं। समाचार से संबंधित कार्यक्रमों में ज्यादा सम्भावना यही रहती है कि वे उसी विचारधारात्मक ढाँचे के तहत डिकोडिंग करे जिसके तहत उसकी इनकोडिंग की गयी है। दूसरी तरह के कार्यक्रमों में दर्शकों द्वारा कार्यक्रम के विचारधारात्मक संदेश की अपने तात्कालिक अनुभव के प्रभाव में आंशिक रूप से भिन्न पुनर्व्याख्या करने की सम्भावना रहती है। दर्शक द्वारा डिकोडिंग के तीसरे रूप को हाल ने 'प्रतिपक्षी' करार दिया जिसके तहत वह प्रस्तुत कार्यक्रम के आर-पार देख कर समझ जाता है कि इससे राष्ट्रीय हित सध रहा है या कोई खास वर्गीय हित साधा जा रहा है।

टीवी-अध्ययन का दूसरा प्रयोग ग्लासगो विश्वविद्यालय के मीडिया ग्रुप द्वारा किया गया। उसने ब्रिटिश टेलिविज़न पर प्रसारित होने वाले समाचार-कार्यक्रमों के आनुभविक और लक्षण-वैज्ञानिक अध्ययन की परियोजना चलाई। कार्यक्रमों की वीडियोटेपिंग का विश्लेषण करके इस ग्रुप ने तथ्यात्मक प्रमाण प्रस्तुत किये कि किस तरह से समाचारों का प्रसारण पूँजीवाद और मध्यवर्ग के हितों को ध्यान में रख कर नियोजित किया जाता है।

स्टुअर्ट हाल और ग्लासगो ग्रुप के प्रयासों से टीवी कार्यक्रमों को एक पाठ की तरह विश्लेषित करने की परम्परा शुरू हुई। इसके तहत मनोरंजन के धारावाहिक कार्यक्रमों (सोप ओपेरा) का पाठालोचन हुआ। अमेरिकी सीरियल 'डलास' के अध्ययन से नतीजा निकाला गया कि इसमें दिखाई गयी परिस्थितियाँ तो दर्शकों की जीवन-स्थितियों से भिन्न होती हैं, पर उसमें व्यक्त किये जाने वाले मनोभाव उनसे मेल खाते हैं। एक निष्कर्ष यह भी निकला कि इस तरह के सीरियलों का दर्शकों पर प्रभाव समरूप नहीं होता। वे अपनी-अपनी परिस्थितियों के मुताबिक मनोरंजन के इन कार्यक्रमों का तात्पर्य ग्रहण करते हैं। इस अध्ययन को आधार बना कर नारीवादी सिद्धांतकारों ने मनोवैश्लेषिक सिद्धांत का इस्तेमाल करते हुए टीवी के उपभोग और जेंडरीकृत अस्मिता की रचना के बीच संबंधों पर सवालिया निशान लगाये। बाज़ारू संस्कृति के अंग के रूप में टीवी पर विचार करते हुए कुछ विद्वानों ने कार्यक्रम के व्यावसायिक उत्पादन और उसके सांस्कृतिक उत्पादन (व्याख्या) को अलग करके समझने पर

ज़ोर दिया। टीवी-अध्ययन की इन उपलब्धियों का परिणाम बाज़ारू संस्कृति को समझने के दो परस्पर विपरीत नज़रियों में निकला। एक दृष्टिकोण का कहना था कि बाज़ारू संस्कृति का उपभोग समाज पर हावी सत्ता की प्रधान संरचनाओं को मौज-मजे के भाव से देखते हुए अ-श्रद्धा के रवैये को जन्म देता है। इसके विपरीत दूसरा दृष्टिकोण बाज़ारू संस्कृति को सत्ता की संरचनाओं की पुष्टि का गुणहगार मानता है।

टीवी से संबंधित उत्तर-आधुनिक सिद्धांत के केंद्र में ज्यॉ बौद्रीआ का विमर्श है। उन्होंने यथार्थ और कल्पना को एक-दूसरे के बरक्स समझने के बजाय अतिथार्थता (हायपर रियलिटी) और साइमुलेशन (अनुरूपण) की अवधारणाओं के जरिये टीवी की सर्वथा नयी व्याख्या पेश की। उनका कहना है कि मीडिया प्रौद्योगिकी अपने मौजूदा चरण में पहले से मौजूद यथार्थ का निरूपण न करके अपना अलग यथार्थ रचती है। हम जिस अनुभव का साक्षात्कार करते हैं उसकी रचना सिनेमा, टीवी, वीडियो, बाज़ारू संगीत आदि विभिन्न सांस्कृतिक माध्यमों की अंतःक्रिया के चलते होती है। साइमुलेशन की प्रक्रिया के यथार्थमूलक फलितार्थ होते हैं। अपने इसी विमर्श को आगे बढ़ाते हुए बौद्रीआ ने यह विचारोत्तेजक दावा भी किया कि खाड़ी युद्ध दरअसल एक हायपर रियलिटी और साइमुलेशन था। वे कहना यह चाहते थे कि यह युद्ध न केवल कैमरों की निगाह के तले लड़ा गया, बल्कि असल में यह कैमरों के लिए भी किया गया था। गाइडिड मिसाइलों में लगे हुए कैमरों के माध्यम से युद्ध को मृत्यु और विनाश दिखाने वाले एक प्रदर्शनीय नज़ारे का रूप दे दिया गया। इस तरह टीवी ने युद्ध की प्रकृति को ही बदल डाला।

देखें : टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और समाचार, बाज़ारू संस्कृति, बहुसंस्कृतिवाद, युरोकेंद्रीयता, संस्कृति, संस्कृति-अध्ययन, संस्कृति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, संस्कृति-उद्योग, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, सोप ओपेरा।

संदर्भ

1. रॉबर्ट एलन और एनेट हिल (सम्पा.) (2004), *द टेलिविज़न स्टडी रीडर*, रॉटलेज, न्यूयॉर्क.
2. जॉन कॉर्नर (1999), *क्रिटिकल आइडियाज़ इन टेलिविज़न स्टडीज़*, क्लैरंडन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
3. स्टुअर्ट हाल (1997), *अर्ली राइटिंग ऑन टेलिविज़न*, रॉटलेज, लंदन.
4. रेमण्ड विलियम्स (1974), *टेलिविज़न, टेक्नॉलॉजी ऐंड कल्चरल फ़ॉर्म*, फ़्रॉंटाना, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

टीवी समाचार

(TV News)

टीवी पर प्रसारित होने वाले समाचार बुलेटिनों और सार्वजनिक मुद्दों के विश्लेषण का सूचना समाज की रचना-प्रक्रिया में अहम योगदान है। सरकार के नियंत्रण में चलने वाले टीवी के समाचारों की प्रकृति काफ़ी-कुछ प्रोपेगंडे जैसी मानी जाती थी। डिजिटल, केबल और सैटेलाइट टीवी पर समाचार चैनलों द्वारा दी जाने वाली जानकारियों की साख जनमानस में कहीं बेहतर है। सबसे पहले ब्रिटिश ब्राडकास्टिंग कॉरपोरेशन (बीबीसी) और अमेरिकी चैनल सीएनएन ने चौबीसों घंटे चलने वाले न्यूज़ चैनल का प्रयोग किया था। आज न्यूज़ चैनलों की दुनिया कहीं अधिक विस्तृत और विविध हो चुकी है। व्यावसायिक जगत के समाचार देने वाले चैनल अलग से हैं। स्पोर्ट्स और मनोरंजन की दुनिया की जानकारी देने वाले चैनलों ने भी अपनी लोकप्रियता अलग से क़ायम की है। भारत के उपग्रहीय टीवी पर तो पिछले दस साल में तरह-तरह के न्यूज़ चैनलों की भरमार हो गयी है। मीडिया-अध्ययन के दायरे में टीवी न्यूज़ का मूल्यांकन उनकी प्रामाणिकता, सटीकता और निष्पक्षता के आधार पर तो किया ही जाता है, साथ ही यह भी देखा जाता है कि न्यूज़ बुलेटिनों द्वारा रचा जा रहा संसार किस तरह के राजनीतिक फलितार्थों की तरफ़ इशारा कर रहा है। टीवी के आने से पहले ख़बरों के सार्वजनिक प्रसारण का मुख्य ज़रिया रेडियो था। आज रेडियो की ख़बरें रंगीन टीवी स्क्रीन की जीवंतता के सामने फीकी पड़ चुकी हैं। यहाँ तक कि समाचार पत्रों की लोकप्रियता पर भी टीवी न्यूज़ चैनलों का असर हुआ है। टीवी के मुक़ाबले अपनी विशिष्टता बनाये रखना मुद्रित समाचारों के लिए बहुत बड़ी चुनौती है।

न्यूज़ चैनल भले ही दावा करते रहें कि उनके द्वारा प्रसारित समाचार वस्तुनिष्ठता की कसौटी पर खरे उतरते हैं, पर मीडिया-अध्ययन मान कर चलता है कि 'ऑब्जेक्टिविटी' हासिल करना नामुमकिन है। कोई भी समाचार यथार्थ के ठोस रूपों का सीधा और सहज प्रतिनिधित्व नहीं करता। वह यथार्थ को एक ख़ास निगाह से निरूपित करता है। एक समाचार के कई संस्करण हो सकते हैं जिनके पीछे अलग-अलग प्राथमिकताएँ हो सकती हैं। हर नज़रिये के निर्माण के पीछे ज्ञान और विचारधारा के थमाये हुए रूप तो होते ही हैं, समाचार के प्रोडक्शन के बँधे-बँधाये तौर-तरीकों की भी उनके उत्पादन में निर्णायक भूमिका होती है। समाचार तो हर रोज़ अनगितन होते हैं, पर किसी समाचार का सार्वजनिक जीवन चैनल के सम्पादकीय विभाग के इस फ़ैसले पर निर्भर करता है कि कौन सी ख़बर बुलेटिन में डाली जाएगी, उसकी

जगह क्या होगी, उसे कितनी देर तक प्रसारित किया जाएगा और क्या अगले दिन भी उस ख़बर का हवाला देते हुए घटनाक्रम का अगला विकास (फ़ॉलोअप स्टोरी) प्रसारित किया जाएगा?

टीवी न्यूज़ के कुछ विश्लेषकों की राय है कि सरकारी क़ब्जे से छूटने के बाद भी सूचनाओं के इस स्रोत पर सत्तारूढ़ अभिजनों की जकड़ ढीली नहीं हुई है। उन्होंने कॉरपोरेट जगत से मिल कर यह सुनिश्चित किया है कि न्यूज़ रिपोर्टिंग एक ख़ास तरह के वैचारिक रवैये के मुताबिक ही की जाए। विज्ञापन जगत (जिसका सीधा संबंध कॉरपोरेट जगत से है) की तरफ़ से पड़ने वाले दबावों की इसमें काफ़ी भूमिका रहती है। अमेरिकी साम्राज्यवाद के प्रमुख आलोचक नोआम चोमस्की ने इस प्रक्रिया को 'मैन्यूफ़ैक्चरिंग कंसेंट' की संज्ञा दी है। ब्रिटेन में ग्लासगो विश्वविद्यालय के मीडिया ग्रुप ने सत्तर के दशक में किये गये अध्ययनों के ज़रिये बताया था कि ख़बरों के चयन और प्रस्तुतीकरण में सत्तारूढ़ सामाजिक और आर्थिक हितों की प्रधानता रहती है। मसलन, किसी औद्योगिक विवाद को कवर करते समय टीवी वाले यूनिशन के वक्तव्य को प्रबंधन की दावेदारियों के बीच में कहीं डाल देंगे, सड़क पर हो रहे विरोध प्रदर्शन का दृश्यांकन बैरिकेड के पुलिस-पक्ष की तरफ़ से किया जाएगा, घटना के वर्णन के लिए ऐसी भाषा का इस्तेमाल किया जाएगा जो सरकार और प्रबंधन का पक्ष लेती हो।

मीडिया-अध्ययन की एक उल्लेखनीय प्रवृत्ति उन विद्वानों से ताल्लुक रखती है जिनकी दृष्टि बहुलतावादी है। ये विश्लेषक 'मैन्यूफ़ैक्चरिंग कंसेंट' के विचार को बहुत हमदर्दी से नहीं देखते। बहुलतावादियों का दावा है कि न्यूज़ चैनल अभिजन और सत्तारूढ़ परिप्रेक्ष्य से बँधे रहने के लिए अभिशप्त नहीं हैं। बहुलतावादी विचार सत्ता को किसी केंद्र पर स्थित नहीं मानता, बल्कि उसकी निगाह में कई तरह के गुट सत्ता के लिए जद्दोजहद करते रहते हैं। टीवी न्यूज़ इस बहुलता की अभिव्यक्ति होते हैं। उन्हें दर्शकों की रुचि और दिलचस्पी का भी ध्यान रखना पड़ता है। साथ ही यह भी नहीं माना जा सकता कि उन पर लोकतांत्रिक आदर्शों और स्थापित पत्रकारीय मर्यादाओं का कोई असर होता ही नहीं है। बहुलतावादी न्यूज़ प्रसारित करने वाले संगठनों को विविधतापूर्ण संस्कृतियों के रूप में देखते हैं।

टीवी न्यूज़ के अध्येताओं के अनुसार न्यूज़ चैनलों के प्रबंधकों की लगातार कोशिश होती है कि समाचार हासिल करने और उनका प्रोडक्शन करने की लागत कैसे कम की जाए। इसके लिए वे स्वतंत्र रूप से जानकारियाँ जमा करने में होने वाले ज़बरदस्त ख़र्च से बचने के लिए एजेंसियों और 'अधिकारिक' (सरकारी) स्रोतों पर निर्भर रहना पसंद करते हैं। चूँकि उन्हें अपना चैनल चौबीस घंटे और साल में 365

दिन चलाना है इसलिए स्क्रीन को लगातार जिलाये रखने के लिए उनकी प्राथमिकता 'सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना' के बजाय विभिन्न स्रोतों से आसानी से उपलब्ध हो जाने वाली सामग्री के प्रसारण की रहती है। अक्सर जिस समाचार के लिए 'विजुअल फुटेज' उपलब्ध है, वह बुलेटिन में जगह पा जाती है। मसलन, अगर किसी दूर-दराज देश में विमान दुर्घटना हुई है और उसका फुटेज मिल गया है, तो वह कितनी भी ग़ैर-महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, उसे ज़रूर प्रसारित किया जाएगा।

मीडिया सिद्धांतकारों ने 1981 में 'न्यूज़ वैल्यू' के विचार का सूत्रीकरण किया था। कौन सी ख़बर 'गुड स्टोरी' है और कौन सी नहीं, यह उसकी न्यूज़ वैल्यू पर निर्भर करता है। न्यूज़ वैल्यू की अवधारणा के विकास में कई विद्वानों ने योगदान किया है। मसलन, एक न्यूज़ बुलेटिन किसी फ़िल्म स्टार या जानी-मानी हस्ती की सनसनीखेज गतिविधियों की ख़बर को ज्यादा प्राथमिकता देना पसंद करेगा बनिस्पत रक्षा बजट के तुलनात्मक अध्ययन से निकाले गये निष्कर्षों को। ये निष्कर्ष अगले दिन या देर से भी प्रसारित किये जा सकते हैं। इसी तरह किसी दीर्घकालीन प्रवृत्ति से जुड़े समाचार के मुकाबले किसी एक घटना के इर्द-गिर्द बनने वाली ख़बर पहले प्रसारित की जाएगी। अगर कोई दुर्घटना हुई है तो उसकी भीषणता और उसमें होने वाली मौतों की संख्या तय करेगी कि न्यूज़ बुलेटिन में उसकी जगह क्या होगी। इसी तरह न्यूज़ वैल्यू के लिए ज़रूरी है कि ख़बर किसी क्षेत्र या किसी राष्ट्र के वासियों के लिए सुपरिचित और प्रासंगिक भी होनी चाहिए। यह मानक ख़बर के चयन पर स्वजातिवादी (एथनोसेंट्रिक) आग्रह हावी कर देता है।

न्यूज़ वैल्यू की अवधारणा बताती है कि स्पर्धात्मक प्रकृति की ख़बरें काफ़ी प्राथमिकता पाती हैं। राजनीतिक या किसी भी तरह के चुनाव की ख़बरें या फिर युद्ध के समाचारों को इसीलिए पहले नम्बर पर रखा जाता है। नकारात्मकता पैदा करने वाले समाचारों को भी आकर्षक माना जाता है। इसके लिए एक कहावत भी गढ़ ली गयी है 'बैड न्यूज़ इज़ ऑफ़न गुड न्यूज़'। एक 'बैड न्यूज़' दिखाने के बाद ज़रूरी है कि उसे संतुलित करने के लिए कोई खुशदिल ख़बर प्रसारित की जाए। समाज में अभिजनों (अमीर और ऊँचे लोग) की गतिविधियों को भी 'समाचार योग्य' समझा जाता है। इसी तरह 'ह्यूमन इंटरेस्ट' की भी एक कोटि है जिसमें आने वाली ख़बरें अक्सर बुलेटिनों में जगह प्राप्त करने में सफल हो जाती हैं। इन ख़बरों में निरूपित की जाने वाली सामाजिक समस्याओं में कैमरा संबंधित व्यक्तियों को स्क्रीन पर पेश करके वस्तुनिष्ठता और प्रामाणिकता उपलब्ध करने की कोशिश करता है।

जहाँ तक दर्शकों का संबंध है, न्यूज़ चैनलों के दर्शकों में पुरुषों की संख्या हमेशा ज्यादा होती है। इसलिए टीवी के इस हिस्से को आम तौर पर पुरुष-केंद्रित माना जाता है। इसका मतलब यह नहीं है कि टीवी चैनलों में स्त्रियाँ काम नहीं करतीं। लेकिन, खबरें पढ़ने की ज़िम्मेदारी देते समय ध्यान रखा जाता है कि अधिकतर इतरलैंगिक दृष्टि से सुंदर, आकर्षक और युवा स्त्रियों को ही चुना जाए। शायद ही कभी किसी अधेड़ या वृद्ध महिला को यह काम दिया जाता हो।

देखें : टीवी और टीवी अध्ययन, टीवी और सेक्शुअलिटी, बाजारू संस्कृति, बहुसंस्कृतिवाद, युरोकेंद्रीयता, संस्कृति, संस्कृति-अध्ययन, संस्कृति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, संस्कृति-उद्योग, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, सोप ओपेरा।

संदर्भ

1. जोहान गालटुंग और एम. रुज (1981), 'स्ट्रक्चरिंग ऐंड सिलेक्टिंग न्यूज़', एस. कोहेन और जे. यंग (सम्पा.), *द मैनुफैक्चरिंग ऑफ़ न्यूज़, सोशल प्रॉब्लम्स, डेविंस ऐंड द मास मीडिया*, कांस्टेबिल, लंदन.
2. ए. बेल (1991), *लेंगेज ऑफ़ न्यूज़ मीडिया*, ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड.
2. जे. कुरन और जे. सीटिंग (2003), *पॉवर विदआउट रिस्पॉसिबिलिटी : द प्रेस ऐंड ब्रॉडकास्टिंग इन ब्रिटेन*, रॉटलेज, लंदन और न्यूयॉर्क.
4. जे. एल्ड्रिज (सम्पा.) (1995), *न्यूज़ कंटेंट, लेंगेज ऐंड विजुअल्स, ग्लासगो युनिवर्सिटी मीडिया रीडर*, खण्ड 1, रॉटलेज, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

टेलरवाद

(Taylorism)

टेलरवाद आधुनिक औद्योगिक प्रबंधन की एक ऐसी विचारधारा है जो श्रमिक की उत्पादन क्षमता को महत्तम स्तर पर ले जाने के लिए गढ़ी गयी थी। उत्पादन प्रबंधन के इस मॉडल के प्रणेता के फ्रेडरिक विनस्लो टेलर थे जिनका जन्म अमेरिका के एक सम्पन्न परिवार में हुआ था। उनके माता-पिता उन्हें उच्च शिक्षा के लिए हार्वर्ड भेजना चाहते थे लेकिन टेलर ने धातु के एक कारखाने में प्रशिक्षु बनने का फ़ैसला किया। यह अलग बात है कि अपनी सामाजिक हैसियत के खिलाफ़ जाकर ज़मीनी स्तर पर काम करने, सीखने और समझने के बावजूद टेलर का चिंतन मूलतः उच्चवर्गीय

आग्रहों से ग्रस्त रहा। प्रबंधन के मॉडल और तकनीक के तौर पर टेलरवाद उन्नीसवीं सदी के आठवें दशक में विकसित हुआ और बीसवीं सदी के दूसरे दशक तक वह अमेरिका सहित दुनिया के बाकी औद्योगिक देशों में वैज्ञानिक प्रबंधन के अन्य रूपों में प्रचलित और स्वीकृत हो गया। टेलरवाद की सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि सोवियत संघ में अक्टूबर क्रांति के बाद कारखानों के प्रबंधन को लेकर बोलशेविकों के बीच होने वाली बहस में भी यह मुद्दा उठा था कि फ्रैक्ट्रियों के मजदूर-प्रबंधन और टेलरवाद के बीच किसे चुना जाए इस बहस में लेनिन ने टेलरवाद का पक्ष लिया था। इसीलिए सोवियत कारखानों में टेलरिज्म के मुताबिक 'वन मैन मैनेजमेंट सिस्टम' लागू किया गया। लेनिन ने उत्पादन वृद्धि को प्राथमिकता देते हुए शॉप फ्लॉर पर मजदूर-प्रबंधन पर आधारित लोकतंत्र के विचार को इसीलिए खारिज कर दिया था।

हालाँकि आमतौर पर टेलरवाद को वैज्ञानिक प्रबंधन का समानार्थी माना जाता है। परंतु कई विद्वानों का मानना है कि टेलरवाद को वैज्ञानिक प्रबंधन की विचारधारा के एक शुरुआती चरण के रूप में ही देखा जाना चाहिए। शुरु में खुद टेलर अपने काम के लिए शॉप मैनेजमेंट और प्रोसेस मैनेजमेंट जैसे पदों का इस्तेमाल करते थे। असल में वैज्ञानिक प्रबंधन की अवधारणा 1910 में जाकर स्थिर हुई जिसका श्रेय लुई ब्रैंडेई को जाता है। बाद में टेलर भी इसी पद का उपयोग करने लगे।

टेलरवाद का बुनियादी लक्ष्य आर्थिक दक्षता- खास तौर पर श्रम की उत्पादकता में सुधार लाना था। इस अर्थ में टेलरवाद को आर्थिक दक्षता के उस वृहत्तर विमर्श के एक अनुषंग के तौर पर भी देखा जा सकता है जिसका मूल सरोकार मनुष्य की दक्षता बढ़ाना, अपव्यय कम करना तथा उत्पादन के पारम्परिक तरीकों की जगह ज्यादा कारगर विधियों को प्रतिष्ठित करना था। इस तरह अपने आप में टेलरवाद प्रबंधन के क्षेत्र में वैज्ञानिक तथा इंजीनियरिंग के नियमों को लागू करने का पहला प्रयास था। हालाँकि तीस के दशक में प्रबंधन की तकनीक या मॉडल के तौर पर टेलरवाद का प्रभाव घटने लगा था परंतु कार्य की नीति संहिता तय करने, दक्षता को प्रोत्साहन देने, किसी भी तरह के अपव्यय को न्यूनतम स्तर पर लाने, उत्पादन की महत्तम विधि के निर्धारण तथा उत्पादन को विशाल स्तर पर संगठित करके उसे जन-सुलभ बनाने आदि जैसे पहलू आज भी औद्योगिक इंजीनियरिंग तथा प्रबंधकीय ढाँचे के अहम तत्त्व माने जाते हैं।

टेलरवाद की बुनियादी प्रस्थापनाओं के केंद्र में जन-कल्याण के बजाय पूँजी के हितों की चिंता प्रधान थी। टेलरवाद की वैचारिक निर्मित सामाजिक डार्विनवाद तथा उपयोगितावाद पर टिकी है। टेलर जिस वैज्ञानिक प्रबंधन की

बात करते हैं उसका विचारधारात्मक परिप्रेक्ष्य सामाजिक डार्विनवाद और उपयोगितावाद में मिलता है। इस तरह टेलरवाद का मूल विचार इस बात को महत्त्व देता है कि आर्थिक सफलता के पीछे उच्चतर योग्यताओं की भूमिका निर्णायक होती है। इसके अनुसार ऐसी योग्यताओं को अर्जित किया जा सकता है।

टेलरवाद की व्यावहारिकता बीसवीं सदी के दूसरे दशक में विकसित हुए राजनीतिक-क्रान्ती ढाँचे से जुड़ी है। इस समय व्यावसायिक उद्यमों के क्षेत्र में आधुनिक कॉर्पोरेशन स्थापित हो चुके थे। 1880 तथा 1890 के दौर में अमेरिका के न्यू जर्सी तथा अन्य प्रांतों में औद्योगिक प्रतिष्ठानों के हक में व्यापक स्तर पर संस्थागत बदलाव किये गये थे। इन बदलावों के पेशे-नज़र किसी भी उद्यम को ज्वाइंट स्टॉक कम्पनी का रूप दिया जा सकता था। इन क्रान्तियों के कारण छोटे और मँझोले उद्यमों का विलय करके विशालकाय कॉर्पोरेशन बनाना आसान हो गया था। इस प्रक्रिया के कारण उद्योग जगत में केंद्रीकरण और एकीकरण की प्रवृत्ति मजबूत होने लगी थी। जिसका परिणाम यह हुआ कि पूँजीपति वर्ग श्रम की प्रक्रिया को पूरी तरह अपने नियंत्रण में लेने लगा। इससे श्रमिकों के बीच व्यापक स्तर पर अशांति फैलने लगी। प्रबंधन के इन दमनकारी पँतरों का प्रतिकार करने के लिए श्रमिक काम पर न जाने और हड़ताल करने जैसे उपाय आजमाने लगे। नतीजतन व्यावसायिक समूहों को औद्योगिक अशांति और अस्थिरता के इस दौर में टेलर की यह बात असामान्य रूप से लगने लगा कि अमेरिका को ज्यादा दक्षता से काम करना चाहिए।

टेलर का दावा था कि अगर उनकी प्रबंधन तकनीक पर सही ढंग से अमल किया जाए तो उत्पादन की लागत में व्यापक कमी लाकर दक्षता का स्तर बढ़ाया जा सकता है। टेलर का यह भी मानना था कि उसका मॉडल श्रमिकों के लिए भी लाभप्रद होगा क्योंकि इसे अपनाते से श्रमिकों की कार्यकुशलता और दक्षता का स्तर बढ़ेगा जिससे लाभ की दर में भी इजाफ़ा होगा। लाभांश बढ़ने से पूँजीपति श्रमिकों को बेहतर वेतन दे पायेंगे और इस तरह श्रमिक अशांति को दूर किया जा सकेगा।

टेलरवाद का सरोकार इस बात से था कि किसी काम को करने का सबसे बेहतर ढंग क्या हो सकता है। टेलर ने इस दिशा में श्रमिकों के काम करने के तौर-तरीकों और दक्षता का लम्बे समय तक अवलोकन किया था और इस नतीजे पर पहुँचे थे कि अगर काम के दौरान श्रमिकों को एक निश्चित समय के बाद आराम करने का मौक़ा दिया जाए तो उत्पादन पर सकारात्मक असर पड़ता है। लेकिन टेलर के ये सूत्र उस दौर के पूँजीपतियों और फ़ोरमैन के लिए अबूझ साबित हुए।

श्रम की प्रक्रिया पर नियंत्रण बढ़ाने के लिए टेलर ने श्रमिकों के कार्य-व्यवहार का विशद अध्ययन करते हुए उनके बारे में विस्तृत सूचनाएँ जुटायीं। उनकी इस प्रबंधन योजना में श्रमिकों की कार्य-प्रणाली और उत्पादन की दक्षता से संबंधित सूचनाएँ एक केंद्रीकृत विभाग के पास रहती थी। जहाँ इंजीनियर इन सूचनाओं के आधार पर हर कार्य के निष्पादन में लगने वाले समय और उसके तरीके के संबंध में नियम बनाकर उत्पादन की प्रक्रिया को नियंत्रित कर सकते थे। इससे इंजीनियरों को इस बात का अंदाज़ा लगाने में सहूलियत मिलती थी कि किसी काम को करने का सबसे सही तरीका क्या हो सकता है तथा किसी काम को करने में श्रमिक को कितना समय लगता है। ज़ाहिर है कि ऐसी सूचनाओं के आधार पर प्रबंधन श्रम और उत्पादन की प्रक्रिया पर निर्णायक नियंत्रण स्थापित कर सकता था।

टेलर की प्रबंधकीय अंतर्दृष्टि का प्रभाव एक समय इतना व्यापक था कि उससे सोवियत संघ जैसे समाजवादी देश भी अछूते नहीं रह सके। कई इतिहासकारों का कहना है कि लेनिन और ट्रॉट्स्की टेलरवाद के उत्पादन और दक्षता संबंधी पहलुओं से सहमत थे। नतीजतन सोवियत संघ में बीसवीं सदी के दूसरे और तीसरे दशकों में फ़ोर्डवाद और टेलरवाद के प्रति उत्साह और अनुमोदन का माहौल उभरा। जब सोवियत संघ में उद्योग का आधारभूत ढाँचा क्रायम किया जा रहा था तो सोवियत नेतृत्व अमेरिकी इंजीनियरों और परामर्शदाताओं को अपने यहाँ बुलाने में कोई हिचक महसूस नहीं कर रहा था। इतिहासकार थॉमस पी. ह्यूज ने स्टालिन को उद्धृत करते हुए कहा है कि स्टालिन रूसी क्रांतिकारी आदर्श और अमेरिका की प्रबंधकीय दक्षता के मेल को लेनिनवाद का सारतत्त्व कहने में भी गुरेज़ नहीं करते थे।

टेलरवाद में निहित बेगानेपन की अवधारणा पर ध्यान देते हुए कई विद्वानों ने कहा है कि प्रबंधन के एक दर्शन के तौर पर वह विचार और उसके क्रियान्वयन को अनावश्यक और अप्राकृतिक रूप से अलग करने का प्रयास करता है। वह श्रमिकों की सृजनात्मक क्षमताओं को अनुपयोगी मानकर उनकी मनुष्यता छीन लेता है। विचार और उसके क्रियान्वयन की इस पृथकता की विकटता तब प्रकट होती है जब इंजीनियर के रूप में उद्योग की नौकरशाही श्रमिक के ज्ञान को काम करने के नियम और मशीनों में बदल देती है। इस मॉडल में कौशल, हुनर या ज्ञान का केंद्रीकरण कर दिया जाता है। श्रमिकों की तरह उत्पादन की प्रक्रिया पर नज़र रखने वाले प्रबंधक भी अंततः केंद्रीकृत नियंत्रण से संचालित होने लगते हैं। लेकिन टेलरवाद के चलन के दौर में ऐसे प्रबंधकों का प्रबंधकीय प्रक्रिया पर अच्छा ख़ासा नियंत्रण रहता था। टेलर का यह प्रबंधन मॉडल पदानुक्रम पर आधारित था जिसमें प्रबंधकों का वेतन कम्पनी के कर्मचारी-तंत्र में उनके पद व

अनुक्रम के आधार पर निर्धारित किया जाता था।

विद्वानों के अनुसार टेलरवाद का वर्ग संबंधों पर व्यापक और दीर्घकालिक असर पड़ा है। टेलरवाद का विचार श्रमिकों को प्रबंधकों से कमतर मानता है। यह धारणा श्रमिकों और प्रबंधकों के बीच स्थायी विवाद का स्रोत बनती गयी। दूसरे, संगठन के अंदर पदानुक्रम की व्यवस्था के विकास तथा टेलरवाद का असर यह हुआ कि प्रबंधक और इंजीनियर में श्रमिकों के हुनर और उनकी प्रतिभा को महत्वहीन मानने लगे। इसका मज़दूरों के काम की दक्षता पर नकारात्मक असर पड़ा है। तीसरे, टेलर द्वारा प्रतिपादित वेतन की व्यवस्था ने प्रबंधकों और श्रमिकों के बीच वेतन की विकट असमानता को बढ़ावा दिया की है। बीसवीं सदी के आखिरी और इक्कीसवीं सदी के शुरुआती वर्षों में वेतन की यह असमानता अभूतपूर्व स्तर पर पहुँच चुकी है। कई देशों में तो यह श्रमिक और मुख्य कार्यकारी अधिकारी के वेतन का अंतर पांच सौ गुना तक पहुँच चुका है।

देखें : अभिजन, अभिरुचि, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, जादू, जीवन-शैली, पूँजीवाद, फुरसत, बचपन, बेगानगी, भीड़, विचलन, सोवियत समाजवाद-1 और 2, व्लादिमिर इलीच लेनिन, स्टालिन और स्टालिनवाद।

संदर्भ

1. एच. ब्रेवरमैन (1974), *लेबर ऐंड मोनोपोली कैपिटल*, मंथली रिव्यू प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. आर. एडरवर्ड (1979), *कंटेस्टेड टरेन*, बेसिक बुक्स, न्यूयॉर्क.
3. एच. प्रिचेल (2000), *बिग बिज़नेस ऐंड द स्टेट*, स्टेट युनिवर्सिटी ऑफ़ न्यूयॉर्क प्रेस, अलबनी.
4. एफ़. डब्ल्यू. टेलर (1967/1911), *द प्रिंसिपल ऑफ़ साइंटिफ़िक मैनेजमेंट*, डब्ल्यू. डब्ल्यू. नॉर्टन, न्यूयॉर्क.

— नरेश गोस्वामी

टैलकॉट पार्संस

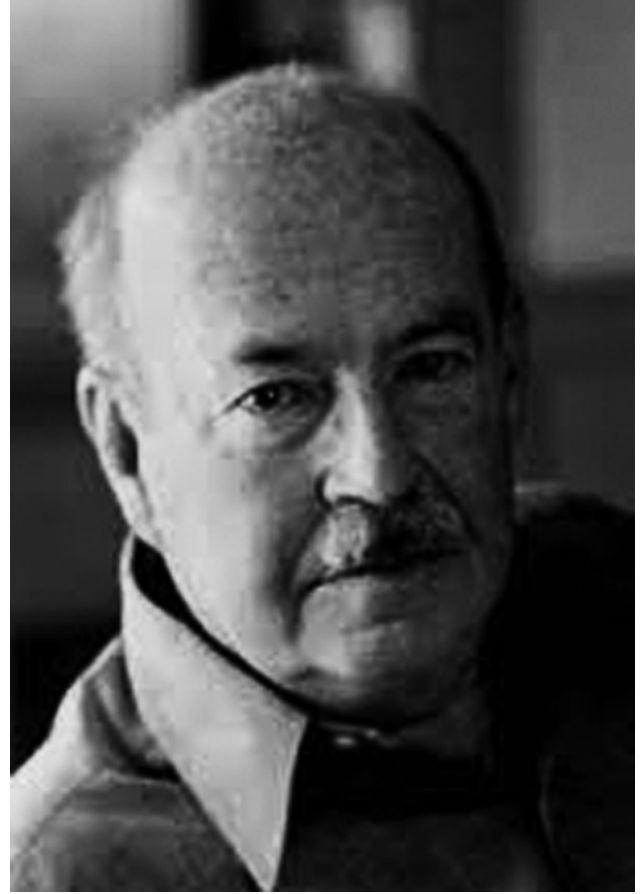
(Talcott Parsons)

यहूदी मूल के अमेरिकी समाजशास्त्री टैलकॉट पार्संस (1902-1979) सामाजिक प्रकार्यवाद के सिद्धांत का प्रतिपादन करने के लिए विख्यात हैं। 1951 में प्रकाशित *द सोशल सिस्टम* में उन्होंने प्रकार्यवाद के सिद्धांत पर विस्तार से प्रकाश डाला। पार्संस सामाजिक प्रणाली और सामाजिक क्रिया संबंधी सिद्धांतों के प्रयोग के लिए भी जाने जाते हैं। पार्संस ने सामाजिक प्रकार्यवाद को मैलिनास्की और

रेडक्लिफ़ ब्राउन के मानवशास्त्र की सीमाओं से निकाल कर उसका प्रयोग आधुनिक व परम्परागत समाजों के संरचनागत अध्ययन के लिए किया। इससे पहले हरबर्ट स्पेंसर और दुर्खाइम इसका आधुनिक पश्चिमी समाजों के विश्लेषण के लिए कर चुके थे, लेकिन बाद में इसका प्रयोग आदिम जातियों की समाज-संरचना के अध्ययन तक सीमित रह गया था। पार्संस ने समाजशास्त्र में सामान्य और सार्वजनिक रूप से लागू हो सकने वाले ऐसे सिद्धांतों के बारे में विचार किया जिन्हें किसी भी समाज पर लागू किया जा सके। इसके लिए उन्होंने संरचनात्मक-प्रकार्यवाद की विशेष सहायता ली। उन्हें महावृत्तांत या मैटानैरेटिव का ऐसा समर्थक माना जाता है जिसने प्रकार्यवाद व विकास के सार्वभौम तत्त्वों को सभी समाजों पर लागू होते देखा और उसी आधार पर उनके मूल्यांकन के प्रतिमान बनाये। 1937 में प्रकाशित अपनी पुस्तक *द स्ट्रक्चर ऑफ़ सोशल एक्शन* के कारण उन्हें काफ़ी प्रसिद्धि हासिल हुई थी। पार्संस ने लम्बे समय तक अमेरिका के हार्वर्ड विश्वविद्यालय में अध्यापन किया और वहाँ समाजशास्त्र के विभाग की स्थापना भी की।

प्रकार्यवाद के तहत माना जाता है कि व्यवस्था का एक भाग अन्य भागों से जुड़ा रहता है और इस प्रकार व्यवस्था के विभिन्न अंगों में परस्पर अंतर्निभरता आ जाती है। ये अंग विभिन्न कार्यों के माध्यम से व्यवस्था की आवश्यकताएँ पूरी करते रहते हैं और इस प्रकार उसका सुचारु संचालन-नियमन होता रहता है। पार्संस संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण के आधार पर मानते थे कि समाज-व्यवस्था को तब तक भली भाँति नहीं समझा जा सकता है जब तक उसका गठन करने वाली इकाइयों के प्रकार्यों को अच्छी तरह नहीं समझा जाता। पार्संस की इस आधार पर आलोचना भी की गयी है कि प्रकार्यवाद में मान कर चला जाता है कि समाज में व्यवस्था के सभी अंग सकारात्मक योगदान ही देते हैं। बाद में इन्हीं आलोचनाओं के निराकरण के लिए एक अन्य समाजशास्त्री राबर्ट के. मर्टन ने दुष्प्रकार्य की आवधारणा का प्रकार्यवाद के संबंध में विकास किया। पार्संस की अवधारणाओं पर मैक्स वेबर, एमील दुर्खाइम, मैलिनास्की और परेटो के विमर्श का काफ़ी असर दिखता है।

पार्संस ने अपने समय में सामाजिक व्यवस्था की व्याख्या के लिए प्रचलित उपयोगितावादी और आदर्शवादी दृष्टिकोणों का खण्डन किया क्योंकि उनके अनुसार दोनों ही दृष्टिकोण पहले से मानकर चलते हैं कि समाज का गठन किन्हीं खास मानवीय प्रेरणाओं के आधार पर हुआ है। उपयोगितावाद जहाँ मानवीय आवश्यकता पर अधिक बल देता है, वहीं आदर्शवाद कुछ नैतिक अंतःप्रेरणाओं व मूल्यों पर। पार्संस के अनुसार इस तरह के दृष्टिकोण सामाजिक अध्ययन को पूर्वग्रहग्रस्त बनाते हैं। पार्संस का मत है कि



टैलकाँट पार्संस (1902-1979)

सामाजिक व्यवस्था या संरचना के बने रहने के लिए कुछ प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएँ जिम्मेदार होती हैं। व्यवस्था अपने आत्म-नियमन के लिए मनुष्यों के समाजीकरण पर निर्भर करती हैं। व्यवस्था में स्थिरता भी समाज द्वारा अपने सदस्यों पर नियम-मर्यादा लागू करने या सरकार द्वारा लागू किये गये सामाजिक नियंत्रण के उपायों से ही नहीं, बल्कि समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से क्रायम की जाती है। इसके अलावा उसके लिए ऐसे विभिन्न प्रकार के प्रकार्य भी अनिवार्य होते हैं जिसके बिना सामाजिक प्रणाली जीवित नहीं रह सकती है। पार्संस ने चार क्रिस्म की प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाओं का उल्लेख किया है : अनुकूलन, लक्ष्य-प्राप्ति, एकीकरण, विन्यास-अनुरक्षण।

अनुकूलन के अंतर्गत सामाजिक प्रणाली के बाहर के तत्त्वों जैसे उत्पादन, आर्थिक संसाधनों का इस्तेमाल, वितरण को शामिल किया जाता है। लक्ष्य-प्राप्ति में तीन चीजों पर बल होता है। पहला, लक्ष्य का निर्धारण। दूसरा, लक्ष्य के लिए सामाजिक प्रणाली से सम्बद्ध लोगों को प्रेरित करना। तीसरा, इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सामाजिक प्रणाली के विभिन्न अंगों व सदस्यों की शक्तियाँ जुटाना। एकीकरण ऐसी प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षा है जिससे किसी प्रणाली के अंगों

को परस्पर जोड़ने और उनके बीच समन्वय में सहायता मिलती है। इसके लिए मुख्यतः विचारधारा, धर्म तथा सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षा की प्रकृति व्यवस्था के लिए आंतरिक और प्रयोजनात्मक होती है। अंत में विन्यास-अनुरक्षण में परिवार, शिक्षा और समाजीकरण इत्यादि के जरिये सामाजिक प्रणाली का अनुरक्षण व संगठन सुनिश्चित किया जाता है। समाजीकरण और शिक्षा से विशिष्ट रुचियों, मूल्यों, प्रतीकों और मूल्यों का व्यक्तित्व में आभ्यंतरीकरण होता है।

प्रकार्यवाद का अनिवार्य तत्त्व सोद्देश्यवाद भी पार्सिस की अवधारणा में मौजूद है जिसमें परिणाम को ही कारण के रूप में समझा जाता है। मसलन, नैतिक मूल्यों को धर्म जैसे कारण का परिणाम बताया जाता है, पर वास्तव में धर्म स्वयं नैतिक व्यवस्था की खोज का परिणाम हो सकता है।

पार्सिस की समाजशास्त्रीय अवधारणाओं में सामाजिक क्रिया की धारणा का काफी महत्त्व है। किसी गतिविधि को सामाजिक क्रिया का दर्जा तब प्रदान किया जाता है उसके निष्पादन में ऊर्जा खर्च हो, वह एक विशिष्ट स्थिति में घटित हो और उसका मकसद सामाजिक प्रतिमानों का पालन करते हुए कोई निर्धारित लक्ष्य प्राप्त करना हो। सामाजिक प्रणाली की धारणा और प्रकार्यवाद से प्रतीत होता है कि पार्सिस समाज-परिवर्तन के विरोधी रूढ़िवादी विचारक थे। दरअसल, प्रकार्यात्मक समाजशास्त्रियों की मान्यता रही है कि समाज मौलिक मूल्यों, विश्वासों व सामाजिक कसौटियों के स्तर पर व्यापक सहमति की अवस्था में रहता है। लेकिन पार्सिस ने अपने प्रकार्यवादी समाजशास्त्र में सामाजिक परिवर्तन के विषय को अलग से विवेचित किया है। पार्सिस के अनुसार उद्देश्यों एवं मूल्यों का अभिविन्यास समाज में सामंजस्य एवं तनाव दोनों को जन्म देता है। सामंजस्य से व्यवस्था में स्थिरता आती है, और तनाव से परिवर्तन की स्थिति पैदा होती है। सामाजिक व्यवस्था की भीतरी प्रक्रियाओं से उभरने वाले परिवर्तन और सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन की प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती रहती हैं।

पार्सिस ने सामूहिक प्रव्रजन, जन्म-मृत्यु दर में परिवर्तन, प्रकृति तथा जलवायु-परिवर्तन, जनसंख्या-परिवर्तन वनयेधार्मिक-राजनीतिक विचारों के उदय को परिवर्तन के मुख्य कारकों के रूप में देखा है। अपनी बाद की रचनाओं *द इवोल्यूशन ऑफ सासाइटीज़* (1977) और *सोसाइटीज़ : एवोल्यूशनरी ऐंड कम्परेटिव पर्सपेक्टिव* (1966) में उन्होंने सामाजिक प्रणाली में परिवर्तन के विषय पर विचार किया है। उन्होंने कोशिश की है कि परिवर्तन की भी प्रकार्यवादी व्याख्या प्रस्तुत करें। परिवर्तन चाहे क्रमिक व धीमी गति के हों या क्रांतिकारी, दोनों के विषय में उनकी मान्यता यही है कि परिवर्तन की सभी प्रक्रियाएँ लम्बे समय तक प्रणाली को

बनाये रखने के लिए विभेदीकरण और अनुकूलन के प्रति दबावों से उत्पन्न होती हैं।

क्रांतिकारी आंदोलनों के संदर्भ में उनका आकलन था कि ये भी अंततः सामाजिक स्थिरता के उद्देश्य से अनुकूलन की प्रक्रिया को अपनाते हैं और इनका आरम्भ भले ही परम्परा के विरोध से होता हो, पर उनका अंत रूढ़िवाद में ही होता है। पार्सिस ने परिवर्तन के महत्त्वपूर्ण कारक के रूप में विकासात्मक सार्विकीय तत्वों की अवधारणा विकसित की है। इसका अर्थ है कि हर समाज विकसित होने के लिए सामान्य चरणों से गुजरता है। इसमें विकासात्मक चरणों के विश्व-स्तर पर ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक विश्लेषण पर बल दिया जाता है। पार्सिस ने ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर समाजों का विकासात्मक वर्गीकरण इस प्रकार किया है : आदिम तथा प्राचीन समाज, मध्यवर्ती समाज और आधुनिक समाज। पार्सिस के अनुसार विकासात्मक प्रक्रिया यह सिद्ध करती है कि समाज प्रणालीगत आधुनिकता का लक्ष्य प्राप्त करने की दिशा में बढ़ता है। सभी समाजों को विकासात्मक सार्विकीय तत्वों के संस्थागत होने की प्रक्रिया से गुजरना होता है और समय के साथ इन समाजों में सार्विकीय वैधानिक प्रतिमानों, धन एवं बैंकिंग प्रणाली, तर्कसंगत नौकरशाही और अंततः लोकतंत्र की स्थापना होती है।

परिवर्तन के इन सिद्धांतों के बावजूद पार्सिस को रूढ़िवादी विचारक माना जाता है जो समाज की वर्तमान व्यवस्था को अच्छा या बुरा बताने संबंधी मूल्य-निर्णय देने के स्थान पर उसे अवश्यम्भावी मानते हैं और प्रायः सामाजिक गैरबराबरी को गलत नहीं मानते। उनकी मुख्य सैद्धांतिक प्रस्थापनाओं में परिवर्तन का मुद्दा गौण है, पर जहाँ भी उन्हें परिवर्तन का सिद्धांतीकरण करना होता है, वे कहते हैं कि समाजशास्त्रियों के लिए सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन की प्रक्रियाओं की तुलना में सामाजिक व्यवस्था के भीतरी परिवर्तन का अध्ययन आसान है। पार्सिस की एक आलोचना यह भी है कि उनके सिद्धांतों में असहमति व संघर्ष के पहलुओं की उपेक्षा और सामाजिक संस्थाओं तथा प्रणालियों पर सत्ता व प्रभुत्व की भूमिका को नज़रअंदाज़ किया गया है।

देखें : अल्फ्रेड लुइस क्रोबर, ऑग्युस्त कॉम्ट, क्लाँद लेवी-स्ट्रॉस, क्लिफर्ड गीर्टज़, जॉर्ज जिमेल, पिएर बोर्दियो, फ्रेंज़ उरी बोआस, मारग्रेट मीड, मारसेल मौज़, मार्गरेट मीड, मिल्टन सिंगर, मैक्स वेबर, रुथ बेनेडिक्ट।

संदर्भ

1. टैलकाँट पार्सिस (1937), *द स्ट्रक्चर ऑफ सोशल एक्शन*, मैकग्रा-हिल्स, न्यूयॉर्क.
2. टैलकाँट पार्सिस (1951), *द सोशल सिस्टम*, द फ्री प्रेस, न्यूयॉर्क.

3. टैलकॉट पार्सिस (1977), *द एवोल्यूशन ऑफ सासाइटीज* (प्रस्तावना और सम्पादन : जैक्सन टॉबी), प्रेंटिस हॉल, इंगलवुड क्लिफ.
4. पीटर हैमिल्टन (1983), *टैलकॉट पार्सिस*, रॉटलेज, लंदन और न्यूयॉर्क.

— वैभव सिंह

ट्रस्टीशिप

(Trusteeship)

ट्रस्टीशिप गाँधीवादी अर्थशास्त्र का केंद्रीय सिद्धांत है। यह अर्थशास्त्र का अहिंसक विकल्प है जो नैतिकता की धुरी पर घूमता है। इस सूत्रीकरण के माध्यम से गाँधी ने भारत की आध्यात्मिक-सांस्कृतिक विरासत और समतामूलकता के आधुनिक विचार के बीच एक पुल बनाने की चेष्टा की है। गाँधी के अनुसार सम्पूर्ण सम्पत्ति समाज की धरोहर है जिस पर सबका समान अधिकार है। यह ठीक है कि सभी समान रूप से जन्म लेते हैं किंतु सबकी प्रतिभा, शक्ति और कार्यक्षमता अलग-अलग होती है। इसलिए सबके लिए अलग-अलग अभिक्रम एवं अवसर होते हैं। इस दृष्टि से ट्रस्टीशिप-सिद्धांत के अनुसार सम्पत्ति पर हमारा असीमित एवं निरपेक्ष अधिकार नहीं बनता। सारी सम्पत्ति अंततोगत्वा समाज की है। व्यक्ति उसका मात्र ट्रस्टीशिप या संरक्षक मात्र है। गाँधी की सामाजिक अर्थव्यवस्था में अपरिग्रह, संयम, त्याग, विकेंद्रीकरण, सर्वोदय, सत्याग्रह, स्वदेशी, स्वराज तथा ट्रस्टीशिप के उसूल व्यवहारिक रूप में सामने आते हैं। स्वतंत्र भारत में ट्रस्टीशिप की अवधारणा स्पष्ट करते हुए गाँधी का कहना था कि सभी उद्योगपतियों एवं धनपतियों को अपनी सम्पत्ति ट्रस्ट को दे देनी होगी। गाँधी निजी सम्पत्ति को खत्म करने और समानता आरोपित करने के समाजवादी विचार से सहमत नहीं थे। लेकिन वे यह ज़रूर चाहते थे कि धनपति किसी न किसी ट्रस्ट से जुड़ें। किसी कारण ऐसा न होने पर गाँधी राज्य से यह दरखास्त करने को भी तैयार थे कि भले जबरदस्ती करनी पड़े राज्य यह काम ज़रूर अंजाम दे।

गाँधीवादी अर्थशास्त्री जे.डी. सेठी ने ट्रस्टीशिप की व्याख्या आर्थिक शक्ति के केंद्रीकरण को रोकने के लिहाज से की है। उन्होंने इस प्रक्रिया को तीन चरणों में चलाने का सुझाव दिया है : पहले चरण में बड़े औद्योगिक घरानों की सम्पत्तियों (कम्पनियों) का एक निश्चित प्रतिशत ट्रस्ट को हस्तांतरित किया जाए। इससे उन सम्पत्तियों पर उनका

नियंत्रण समाप्त हो जाएगा लेकिन वे उसके मालिकाने में श्रमिकों, उपभोक्ताओं और सरकार के प्रतिनिधियों के साथ संयुक्त भागीदार हो सकेंगे। इन सभी चारों हितों की भूमिका ट्रस्टी की होगी। श्रमिक इन कम्पनियों द्वारा कमाये गये मुनाफ़े में हिस्सा बँटा सकेंगे, लेकिन बोनस जैसी राशियों को शेयर पूँजी में बदल कर पूँजी संचय बढ़ाया जा सकेगा। दूसरे चरण में छोटे और मँझोले उद्योगों को छोड़ कर बाक़ी सभी उद्योगों को ट्रस्टीशिप के दायरे में लाया जाना चाहिए। तीसरे, ट्रस्टीशिप के तहत चल रही फ़र्मों के लिए दाम तय करने, वितरण, वेतन, मुनाफ़े आदि के बुनियादी उसूल अलग से तय किये जाने चाहिए।

राजनीति का अध्यात्मीकरण करने के साथ-साथ गाँधी अर्थनीति के क्षेत्र में भी नैतिकता को अनिवार्यतः लागू करना चाहते थे। गाँधी जिस ट्रस्टीशिप की बात करते हैं वह पश्चिम प्रदत्त ट्रस्टीशिप से भिन्न है। पश्चिमी क़ानून के दृष्टिकोण से ट्रस्टीशिप में मुख्य तौर पर पाँच बातें आती हैं : सम्पत्ति का अस्तित्व, सम्पत्ति का क़ानूनी स्वामित्व, सम्पत्ति का उद्देश्य, सम्पत्ति का उपयोग, ट्रस्टियों की नियुक्ति एवं उनके अधिकारों एवं कर्तव्यों का निर्धारण। लेकिन गाँधी के लिए ट्रस्टीशिप एक नवीन समाज-व्यवस्था की जीवन शैली का अनिवार्य अंग है। गाँधी मानते हैं कि सारी सम्पत्ति ईश्वर या समाज की है और हम पर उसकी सुरक्षा, विनिमय और उपयोग का नैतिक दायित्व है। यानी हम सब उस सम्पत्ति के ट्रस्टी भर हैं। यदि इस तत्त्व को मानवीय व्यवहार में जगह मिल जाए तो सामाजिक असंतोष एवं कलह का खात्मा हो सकता है। समाज का मूल प्रश्न है मानवीय संबंधों का निर्माण। इस लिहाज से ट्रस्टीशिप न केवल आर्थिक पक्ष बल्कि समग्र मानवीय जीवन को सफल बनाने का कारगर साधन हो सकता है।

गाँधी के लिए ट्रस्टीशिप की अवधारणा आध्यात्मिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य में है। उनका सम्पत्ति संबंधी विचार समाजवादी आग्रहों से भिन्न था। गाँधी जब अपरिग्रह की बात करते हैं तो उसका तात्पर्य स्वेच्छापूर्वक त्याग से है, ग़रीबी के जीवन से नहीं। ग़रीबी को गाँधी ने कभी अच्छा नहीं माना। उनके लिए असली महत्त्व संयम और त्याग का है। गाँधी ने ट्रस्टीशिप के विचार को चार आयाम दिये : सम-वितरण की अहिंसक प्रक्रिया, व्यावहारिक मनोविज्ञान पर आधारित अहिंसक सम-वितरण की श्रेष्ठता, ट्रस्टीशिप का प्रयोग अहिंसा के द्वारा ही सम्भव, अहिंसक समाजवादी परिवर्तन एवं सम्पत्ति के सम-वितरण का उपयोग।

गाँधी ने ट्रस्टीशिप की साधना का प्रारम्भ दक्षिण अफ़्रीका में कर दिया था। उनके फ़ीनिक्स और तॉल्स्टॉय आश्रम इन सिद्धांतों के व्यावहारिक रूप थे जहाँ किसी की

कोई निजी सम्पत्ति नहीं होती थी। इससे पहले ही गाँधी ट्रस्टीशिप के सिद्धांत को अपने निजी जीवन में व्यावहारिक रूप दे चुके थे। 1901 में दक्षिण अफ्रीका से सपरिवार लौटने पर उन्हें वहाँ के भारतीयों ने कई अमूल्य उपहार दिये थे। गाँधी उपहार लेना नहीं चाहते थे, और कस्तूरबा उन्हें छोड़ना नहीं चाहती थी। इस बात को लेकर दोनों में झगड़ा हुआ। यह विवाद गाँधी के इस आग्रह के साथ खत्म हुआ कि इन सब उपहारों से लोक-कल्याण के लिए एक ट्रस्ट बनेगा जिसमें इस सम्पत्ति का उपयोग ट्रस्टियों की इच्छा के अनुसार होगा।

हालाँकि गाँधी का कहना था कि उनके ट्रस्टीशिप के विचार के पीछे गीता का अध्ययन है, लेकिन इस विचार के सूत्रीकरण के लिए उन्होंने अंग्रेजी कानून का अध्ययन भी किया था। इंग्लिश कानून में कोर्ट ऑफ़ इक्विटी और कोर्ट ऑफ़ जस्टिस दो धाराएँ हैं। पहली में तो कानून का औचित्य ध्यान में रखा जाता है और दूसरे में कानून की व्याख्या का महत्त्व है। ट्रस्टीशिप कोर्ट ऑफ़ इक्विटी की परम्परा में आता है। स्नेल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *प्रिंसिपल्स ऑफ़ इक्विटी* में ट्रस्टीशिप की अच्छी तरह से व्याख्या की है। इसके अनुसार जब किसी सम्पत्ति के मालिक की अंतरात्मा यह कहे कि वह किसी सम्पत्ति को अपने पास नहीं रख सकता तब कोर्ट ऑफ़ चांसरी उसे कानूनन इस बात के लिए मजबूर कर सकता है कि वह दूसरे व्यक्ति के हित में वह सम्पत्ति अपने पास रखे।

गाँधी ने अर्थशास्त्र का क्रमबद्ध और व्यवस्थित अध्ययन नहीं किया था, लेकिन उनके विचारों में आर्थिक पक्ष के प्रति जागरूकता दिखाई देती है। गाँधी मनुष्य को एक नैतिक प्राणी मानते हैं और उपभोग में भी उससे नैतिक मूल्यों के निर्वहन की अपेक्षा करते हैं। जब वे कहते हैं कि शोषित श्रम द्वारा तैयार की गयी वस्तुओं को खरीदना और उनका इस्तेमाल करना पापयुक्त है, तब वे उपभोक्ता को भी एक

सत्याग्रही बनने का आमंत्रण देते हैं क्योंकि शोषित श्रम से तैयार वस्तुओं का बहिष्कार भी शोषण के विरुद्ध एक कारगर अस्त्र प्रमाणित हो सकता है। जब वे उपभोक्ता को अपरिग्रह का परामर्श देते हैं तब यह अपरिग्रह न केवल स्वयं उसे उपभोक्तावाद के विचारों से बचाता है बल्कि अनावश्यक उत्पादन और उपभोग के कारण हो रही प्राकृतिक संसाधनों की हिंसक बर्बादी और समाज में बढ़ रही विलासिता के कारण बढ़ रही अनावश्यक आर्थिक होड़ को भी नियंत्रित करता है। यदि मनुष्य एक नैतिक प्राणी है तो उसे उपभोग की वस्तुओं के परिग्रह और सम्पत्ति के नैतिक प्रयोजन पर भी विचार करना चाहिए। इसीलिए गाँधी मानते हैं कि जो वस्तु अधिकांश लोगों को उपलब्ध नहीं है, उसका भोग करने से हमें दृढ़तापूर्वक इनकार कर देना चाहिए। ज़रूरत से अधिक संग्रह एक प्रकार की चोरी है क्योंकि वह किसी अन्य को उस वस्तु से वंचित रखना है।

देखें : अहिंसा-1 और 2, आशिस नदी-1 और 2, चेटपट वेंकटसुब्बन शेषाद्रि, जय प्रकाश नारायण, जोसेफ़ चेल्लादुरै कुमारप्पा, धीरूभाई शेठ, रजनी कोठारी, राम मनोहर लोहिया, विनोबा भावे, सविनय अवज्ञा, सर्वोदय, हिंसा।

संदर्भ

1. आर.बी. उपाध्याय (1976), *सोशल रिस्पॉन्सिबिलिटी ऑफ़ बिज़नेस ऐंड ट्रस्टीशिप थियरी ऑफ़ महात्मा गाँधी*, स्टर्लिंग पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
2. नरेंद्र दुबे (1973), *ट्रस्टीशिप : सिद्धांत एवं व्यवहार*, सर्वसेवा संघ, वाराणसी.
3. तत्त्वमसि (2003), *महात्मा गाँधी का ट्रस्टीशिप का सिद्धांत*, राधा पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
4. जे.डी. सेठी (1978), *गाँधी टुडे*, विकास पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

— मनहर चरण